॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथ तृतीयोऽध्यायः
(तीसरा अध्याय)

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

अर्जुन बोले—

जनार्दन	=हे जनार्दन!	**घोरे**	=घोर		रहे हैं। (अतः आप)
चेत्	=अगर	**कर्मणि**	=कर्ममें	**निश्चित्य**	=निश्चय करके
ते	=आप	**किम्**	=क्यों	**तत्**	=उस
कर्मणः	=कर्मसे	**नियोजयसि**	=लगाते हैं?	**एकम्**	=एक बातको
बुद्धिः	=बुद्धि (ज्ञान) को	**व्यामिश्रेण,इव**	=(आप अपने) मिले हुए-से	**वद**	=कहिये,
ज्यायसी	=श्रेष्ठ	**वाक्येन**	=वचनोंसे	**येन**	=जिससे
मता	=मानते हैं,	**मे**	=मेरी	**अहम्**	=मैं
तत्	=तो फिर	**बुद्धिम्**	=बुद्धिको	**श्रेयः**	=कल्याणको
केशव	=हे केशव!	**मोहयसि, इव**	=मोहित-सी कर	**आप्नुयाम्**	=प्राप्त हो जाऊँ।
माम्	=मुझे				

विशेष भाव— जबतक संसारकी सत्ता मानते हैं, तभीतक कर्म घोर या सौम्य दीखता है। कारण कि संसारकी सत्ता माननेसे कर्मकी तरफ दृष्टि रहती है, अपने कर्तव्यकी तरफ नहीं। अपने कर्तव्यकी तरफ दृष्टि रहनेसे कर्म घोर या सौम्य नहीं दीखता।

~~~~

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—

अनघ	=हे निष्पाप अर्जुन!	**निष्ठा**	=निष्ठा	**साङ्ख्यानाम्**	=ज्ञानियोंकी (निष्ठा)
अस्मिन्	=इस	**मया**	=मेरे द्वारा	**ज्ञानयोगेन**	=ज्ञानयोगसे (और)
लोके	=मनुष्यलोकमें	**पुरा**	=पहले	**योगिनाम्**	=योगियोंकी (निष्ठा)
द्विविधा	=दो प्रकारसे होनेवाली	**प्रोक्ता**	=कही गयी है। (उनमें)	**कर्मयोगेन**	=कर्मयोगसे (होती है)।

विशेष भाव— कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों ही निष्ठाएँ लोकमें होनेके कारण 'लौकिक' हैं—**'लोकेऽस्मिन्द्विविधा**
~~~~

निष्ठा।' कर्मयोगमें 'क्षर' (संसार) की प्रधानता है और ज्ञानयोगमें 'अक्षर' (जीवात्मा) की प्रधानता है। क्षर और अक्षर भी लोकमें ही हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६)। अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों ही लौकिक निष्ठाएँ हैं।

जीव और जगत्‌को मुख्यता देनेसे ही ये दो निष्ठाएँ हुई हैं। अगर जीव और जगत्‌को मुख्यता न देकर केवल परमात्माको ही मुख्यता दें तो दो निष्ठाएँ नहीं होंगी, प्रत्युत केवल अलौकिक भगवन्निष्ठा (भक्ति) होगी।

लौकिक निष्ठा (कर्मयोग-ज्ञानयोग) में साधकका अपना उद्योग मुख्य होता है। वह साधनमें अपना पुरुषार्थ मानता है। परन्तु जब साधक भगवान्‌का आश्रय रखकर साधन करता है, अपना उद्योग मुख्य नहीं मानता, तब उसकी निष्ठा अलौकिक होती है। कारण कि भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे सब अलौकिक हो जाता है। जबतक भगवान्‌का सम्बन्ध नहीं होता, तबतक सब लौकिक ही होता है।

किसीको बुरा न समझे, किसीका बुरा न चाहे और किसीका बुरा न करे तो 'कर्मयोग' आरम्भ हो जाता है। मेरा कुछ नहीं है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये और मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है—इस सत्यको स्वीकार कर ले तो 'ज्ञानयोग' आरम्भ हो जाता है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

पुरुषः	= मनुष्य	**नैष्कर्म्यम्**	= निष्कर्मताका	**सन्न्यसनात्**	= (कर्मोंके) त्यागमात्रसे
न	= न तो	**अश्नुते**	= अनुभव करता है	**सिद्धिम्**	= सिद्धिको
कर्मणाम्	= कर्मोंका	**च**	= और	**एव**	= ही
अनारम्भात्	= आरम्भ किये बिना	**न**	= न	**समधिगच्छति**	= प्राप्त होता है।

विशेष भाव—जो अपना है, अपनेमें है और अभी है, उस तत्त्वकी प्राप्ति कुछ करनेसे नहीं होती; क्योंकि उसकी अप्राप्ति कभी होती ही नहीं। हम कुछ करेंगे, तब प्राप्ति होगी—यह भाव देहाभिमानको पुष्ट करनेवाला है। प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है; अतः क्रिया करनेसे उसकी प्राप्ति होगी, जो विद्यमान नहीं है। परन्तु प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होनेके कारण प्रत्येक प्राणीमें क्रियाका वेग रहता है, जो उसको क्रियारहित नहीं होने देता। क्रियाका वेग शान्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि जो नहीं करना चाहिये, उसको न करें और जो करना चाहिये, उसको निर्मम तथा निष्काम होकर करें अर्थात् अपने लिये कुछ न करें, प्रत्युत केवल दूसरेके हितके लिये ही करें। अपने लिये करनेसे क्रियाका वेग कभी समाप्त नहीं होगा; क्योंकि अपना स्वरूप नित्य है और कर्म अनित्य हैं। अतः निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे क्रियाका वेग शान्त होकर प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और सब देश, काल आदिमें विद्यमान परमात्मतत्त्व प्रकट हो जायगा, उसका अनुभव हो जायगा।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

कश्चित्	= कोई	**अकर्मकृत्**	= कर्म किये बिना	**सर्वः**	= सब प्राणियोंसे
हि	= भी (मनुष्य)	**न**	= नहीं	**प्रकृतिजैः**	= प्रकृतिजन्य
जातु	= किसी भी अवस्थामें	**तिष्ठति**	= रह सकता;	**गुणैः**	= गुण
क्षणम्	= क्षणमात्र	**हि**	= क्योंकि	**कर्म**	= कर्म
अपि	= भी	**अवशः**	= (प्रकृतिके) परवश हुए	**कार्यते**	= करवा लेते हैं।

विशेष भाव—क्रियामात्र केवल प्रकृतिमें ही होती है। परन्तु प्रकृतिके साथ अपना तादात्म्य स्वीकार करनेसे मनुष्य प्रकृतिजन्य गुणोंके अधीन हो जाता है—'**अवशः**' तथा उसका क्रियाके साथ सम्बन्ध हो जाता है। इसलिये प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध माननेवाला कोई भी मनुष्य जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि तथा सर्ग-महासर्ग, प्रलय-महाप्रलय आदि किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता।

सुषुप्ति, मूर्च्छा तथा समाधि-अवस्थामें क्रिया कैसे होती है? मनुष्य सोता हो और कोई उसको बीचमें ही जगा दे तो वह कहता है कि मेरेको कच्ची नींदमें जगा दिया! इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्तिके समय भी नींदके पकनेकी क्रिया हो रही थी। ऐसे ही मूर्च्छा और समाधिके समय भी क्रिया होती है। पातञ्जलयोगदर्शनमें इस क्रियाको 'परिणाम' नामसे कहा है*। 'परिणाम' का अर्थ है—परिवर्तनकी धारा अर्थात् बदलनेका प्रवाह†। तात्पर्य है कि समाधिके आरम्भसे लेकर व्युत्थान होनेतक क्रिया होती रहती है। अगर क्रिया न हो तो व्युत्थान हो ही नहीं सकता। समाधिके समय परिणाम होता है और समाधिके अन्तमें व्युत्थान होता है।

प्रकृतिकी सम्पूर्ण अवस्थाओंसे अतीत है—सहजावस्था अथवा सहज समाधि। सहजावस्था स्वरूपकी होती है, जिसमें किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं है, क्रिया होनी सम्भव ही नहीं है। अतः सहजावस्थामें परिणाम तथा व्युत्थान कभी होता ही नहीं। कारण कि क्रियाएँ प्रकृति-विभागमें ही हैं, स्वरूप-विभागमें नहीं।

'**कार्यते ह्यवशः कर्म**'—कर्म करनेमें तो हम परतन्त्र हैं, पर उनमें राग-द्वेष करनेमें अथवा न करनेमें हम स्वतन्त्र हैं।

~~~

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥

यः	=जो	**मनसा**	=मनसे	**विमूढात्मा**	=मूढ़ बुद्धिवाला मनुष्य
कर्मेन्द्रियाणि	=कर्मेन्द्रियों (सम्पूर्ण इन्द्रियों) को	**इन्द्रियार्थान्**	=इन्द्रियोंके विषयोंका	**मिथ्याचारः**	=मिथ्याचारी (मिथ्या आचरण करनेवाला)
संयम्य	=(हठपूर्वक) रोककर	**स्मरन्**	=चिन्तन करते हुए		
		आस्ते	=बैठता है,		
		सः	=वह	**उच्यते**	=कहा जाता है।

विशेष भाव—सांसारिक भोगोंको बाहरसे भी भोगा जा सकता है और मनसे भी। बाहरसे भोग भोगना और मनसे उनके चिन्तनका रस (सुख) लेना—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है। बाहरसे रागपूर्वक भोग भोगनेसे जैसा संस्कार पड़ता है, वैसा ही संस्कार मनसे भोग भोगनेसे अर्थात् मनसे भोगोंके चिन्तनमें रस लेनेसे पड़ता है। भोगकी याद आनेपर उसकी यादसे रस लेते हैं तो कई वर्ष बीतनेपर भी वह भोग ज्यों-का-त्यों (ताजा) बना रहता है। अतः भोगके चिन्तनसे भी एक नया भोग बनता है! इतना ही नहीं, मनसे भोगोंके चिन्तनका सुख लेनेसे विशेष हानि होती है। कारण कि लोक-लिहाजसे, व्यवहारमें गड़बड़ी आनेके भयसे मनुष्य बाहरसे तो भोगोंका त्याग कर सकता है, पर मनसे भोग भोगनेमें बाहरसे कोई बाधा नहीं आती। अतः मनसे भोग भोगनेका विशेष अवसर मिलता है। इसलिये मनसे भोग भोगना साधकके लिये बहुत नुकसान करनेवाली बात है। वास्तवमें मनसे भोगोंका त्याग ही वास्तविक त्याग है (गीता २। ६४)।

~~~

* **व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः॥ ९॥ सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः॥ ११॥ ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः॥ १२॥** (विभूतिपाद)

† '**अथ कोऽयं परिणामः? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः**' (योगदर्शन, विभूति० १३ का व्यासभाष्य) 'यह परिणाम क्या है? अवस्थित द्रव्यके पूर्व धर्मकी निवृत्ति होकर अन्य धर्मकी उत्पत्ति (अवस्थान्तर) ही परिणाम है।'

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

तु	= परन्तु	**नियम्य**	= नियन्त्रण करके		इन्द्रियों) के द्वारा
अर्जुन	= हे अर्जुन!	**असक्तः**	= आसक्तिरहित होकर (निष्कामभावसे)	**कर्मयोगम्**	= कर्मयोगका
यः	= जो (मनुष्य)			**आरभते**	= आचरण करता है,
मनसा	= मनसे			**सः**	= वही
इन्द्रियाणि	= इन्द्रियोंपर	**कर्मेन्द्रियैः**	= कर्मेन्द्रियों (समस्त	**विशिष्यते**	= श्रेष्ठ है।

विशेष भाव—अपनेमें कल्याणकी इच्छा हो, स्वभावमें उदारता हो और हृदयमें करुणा हो अर्थात् दूसरेके सुखसे सुखी (प्रसन्न) और दुःखसे दुःखी (करुणित) हो जाय—ये तीन बातें होनेपर मनुष्य कर्मयोगका अधिकारी हो जाता है। कर्मयोगका अधिकारी होनेपर कर्मयोग सुगमतासे होने लगता है।

कर्मयोगमें एक विभाग 'कर्म' (कर्तव्य) का है और एक विभाग 'योग' का है। प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य और योग्यताका सदुपयोग करना और व्यक्तियोंकी सेवा करना—यह कर्तव्य है। कर्तव्यका पालन करनेसे संसारसे माने हुए संयोगका वियोग हो जाता है—यह योग है। कर्तव्यका सम्बन्ध संसारके साथ है और योगका सम्बन्ध परमात्माके साथ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

त्वम्	= तू	**हि**	= क्योंकि	**अकर्मणः**	= कर्म न करनेसे
नियतम्	= शास्त्रविधिसे नियत किये हुए	**अकर्मणः**	= कर्म न करनेकी अपेक्षा	**ते**	= तेरा
				शरीरयात्रा	= शरीर-निर्वाह
		कर्म	= कर्म करना	**अपि**	= भी
कर्म	= कर्तव्यकर्म	**ज्यायः**	= श्रेष्ठ है	**न, प्रसिद्ध्येत्**	= सिद्ध नहीं होगा।
कुरु	= कर;	**च**	= तथा		

विशेष भाव—निष्कामभावसे कर्म करनेवाला कर्मयोगी केवल स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेवालोंसे अथवा सकामभावसे कर्म करनेवालोंसे ही श्रेष्ठ नहीं है, प्रत्युत ज्ञानयोगीसे भी श्रेष्ठ है—'**तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते**' (गीता ५। २)। इसलिये भगवान् प्रस्तुत प्रकरणमें निष्कामभावसे कर्म करनेपर विशेष जोर दे रहे हैं।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥

यज्ञार्थात्	= यज्ञ (कर्तव्य-पालन) के लिये किये जानेवाले		वाले) कर्मोंमें (लगा हुआ)	**कौन्तेय**	= हे कुन्तीनन्दन! (तू)
		अयम्	= यह	**मुक्तसङ्गः**	= आसक्तिरहित होकर
		लोकः	= मनुष्य-समुदाय	**तदर्थम्**	= उस यज्ञके लिये (ही)
कर्मणः	= कर्मोंसे				
अन्यत्र	= अन्यत्र (अपने लिये किये जाने-	**कर्मबन्धनः**	= कर्मोंसे बँधता है (इसलिये)	**कर्म**	= कर्तव्यकर्म
				समाचर	= कर।

विशेष भाव—मनुष्य कर्म करनेसे नहीं बँधता, प्रत्युत 'अन्यत्र कर्म' करनेसे अर्थात् अपने लिये कर्म करनेसे बँधता है (गीता ३। १३)। अतः '**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' पदोंका तात्पर्य है—अपने लिये कुछ नहीं करना है।

मनुष्य कर्मबन्धनसे तभी मुक्त हो सकता है, जब वह संसारसे मिले हुए शरीर, वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य (बल) को संसारकी ही सेवामें लगा दे और बदलेमें कुछ न चाहे। कारण कि संसार हमें वह वस्तु नहीं दे सकता, जो हम वास्तवमें चाहते हैं। हम सुख चाहते हैं, अमरता चाहते हैं, निश्चिन्तता चाहते हैं, निर्भयता चाहते हैं, स्वाधीनता चाहते हैं। परन्तु यह सब हमें संसारसे नहीं मिलेगा, प्रत्युत संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे मिलेगा। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदके लिये यह आवश्यक है कि हमें संसारसे जो मिला है, उसको केवल संसारकी ही सेवामें समर्पित कर दें।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ११॥

प्रजापतिः	=प्रजापति ब्रह्माजीने	**प्रसविष्यध्वम्**	=सबकी वृद्धि करो (और)	**भावयत**	=उन्नत करो (और)
पुरा	=सृष्टिके आदिकालमें	**एषः**	=यह (कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ)	**ते**	=वे
सहयज्ञाः	=कर्तव्यकर्मोंके विधानसहित	**वः**	=तुमलोगोंको	**देवाः**	=देवतालोग (अपने कर्तव्यके द्वारा)
प्रजाः	=प्रजा (मनुष्य आदि) की	**इष्टकामधुक्**	=कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला	**वः**	=तुमलोगोंको
सृष्ट्वा	=रचना करके (उनसे प्रधानतया मनुष्योंसे)	**अस्तु**	=हो।	**भावयन्तु**	=उन्नत करें। (इस प्रकार)
उवाच	=कहा कि (तुमलोग)	**अनेन**	=इस (अपने कर्तव्यकर्म) के द्वारा (तुमलोग)	**परस्परम्**	=एक-दूसरेको
अनेन	=इस कर्तव्यके द्वारा	**देवान्**	=देवताओंको	**भावयन्तः**	=उन्नत करते हुए (तुमलोग)
				परम्	=परम
				श्रेयः	=कल्याणको
				अवाप्स्यथ	=प्राप्त हो जाओगे।

विशेष भाव—मनुष्य कर्मयोनि है और चौरासी लाख योनियाँ, देवता, नारकीय जीव आदि भोगयोनियाँ हैं। सकामभाववाले मनुष्य भोगोंको भोगनेके लिये ही स्वर्गमें जाते हैं। अतः देवतालोग निष्कामभाव न रखकर अपनी जिम्मेवारीका पालन करते हैं, ड्यूटी बजाते हैं। इसलिये यहाँ कल्याणकी बात मनुष्योंके लिये ही समझनी चाहिये।

मुक्ति स्वाभाविक है और बन्धन अस्वाभाविक है। मनुष्ययोनि अपना कल्याण करनेके लिये ही है। इसलिये जो मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन करता है, उसका कल्याण स्वाभाविक होता है—'**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ**'। कल्याणके लिये नया काम करनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत जो काम करते हैं, उसीको स्वार्थ, अभिमान और फलेच्छाका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये करें तो कल्याण हो जायगा। निष्कामभावके बिना भी केवल अपने कर्तव्यका पालन करनेसे स्वर्गादि पुण्यलोकोंकी प्राप्ति हो जाती है। जिस स्वर्गकी प्राप्ति बड़े-बड़े यज्ञ करनेसे होती है, उसीकी प्राप्ति क्षत्रिय केवल अपना कर्तव्यकर्म—युद्ध करके प्राप्त कर सकता है।

जैसे ब्रह्माजीने देवताओं और मनुष्योंके लिये परस्पर एक-दूसरेका हित करनेकी बात कही है, ऐसे ही चारों वर्णोंके लिये भी परस्पर एक-दूसरेका हित करनेकी बात समझनी चाहिये। चारों वर्ण परस्पर एक-दूसरेके हितके

लिये अपना-अपना कर्तव्यकर्म करें तो वे परम कल्याणको प्राप्त हो जायँगे।

सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना ही इस ढंगसे हुई है कि अपने लिये कुछ (वस्तु और क्रिया) नहीं है, दूसरेके लिये ही है—**'इदं ब्रह्मणे न मम'**। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके लिये ही होती है, अपने लिये नहीं। स्त्रीके अंग पुरुषको सुख देते हैं, पर स्त्रीको सुख नहीं देते। पुरुषके अंग स्त्रीको सुख देते हैं, पर पुरुषको सुख नहीं देते। माँका दूध बच्चेके लिये ही होता है, अपने लिये नहीं और बच्चेकी चेष्टाएँ माँको सुख देती हैं, बच्चेको नहीं। माता-पिता सन्तानके लिये होते हैं और सन्तान माता-पिताके लिये होती है। श्रोता वक्ताके लिये होता है और वक्ता श्रोताके लिये होता है। तात्पर्य है कि खुद सुख न ले, प्रत्युत दूसरेको सुख दे। सृष्टिकी रचना भोगके लिये नहीं है, प्रत्युत उद्धारके लिये है।

देवता भी स्वार्थका त्याग करके दूसरेका हित कर सकते हैं। इसलिये देवताओंमें भी नारद-जैसे ऋषि हुए हैं। यद्यपि भगवान्‌की ओरसे किसीको मना नहीं है, तथापि कल्याणका मुख्य एवं स्वतः अधिकारी मनुष्य ही है।

एक शंका हो सकती है कि हम तो दूसरेका भला करें, पर दूसरा हमारा भला न करके बुरा करे तो **'परस्परं भावयन्तः'** कैसे होगा? इसका समाधान है कि हम दूसरेका भला करेंगे तो दूसरा हमारा बुरा कर सकेगा ही नहीं! उसमें हमारा बुरा करनेकी सामर्थ्य ही नहीं रहेगी! अगर वह बुरा करेगा भी तो पीछे पछतायेगा, रोयेगा। अगर वह हमारा बुरा करेगा तो हमारा भला करनेवाले, हमारे साथ सहानुभूति रखनेवाले कई पैदा हो जायँगे। वास्तवमें किसीका बुरा करनेका विधान कहीं नहीं आता। मनुष्य ही द्वेषके कारण दूसरेका बुरा करता है। **'परस्परं भावयन्तः'**—यह मनुष्यताकी बात है। इसके न होनेसे ही मनुष्य दुःख पा रहे हैं।

~~~

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ १२॥

यज्ञभाविताः	= यज्ञसे पुष्ट हुए		सामग्री		बिना
देवाः	= देवता	**दास्यन्ते**	= देते रहेंगे।	**यः**	= जो मनुष्य (स्वयं
हि	= भी		(इस प्रकार)		ही उसका)
वः	= तुमलोगोंको	**तैः**	= उन देवताओंकी	**भुङ्क्ते**	= उपभोग करता है,
	(बिना माँगे ही)	**दत्तान्**	= दी हुई सामग्रीको	**सः**	= वह
इष्टान्, भोगान्	= कर्तव्य-पालनकी	**एभ्यः**	= दूसरोंकी	**स्तेनः**	= चोर
	आवश्यक	**अप्रदाय**	= सेवामें लगाये	**एव**	= ही है।

विशेष भाव—'यज्ञभाविताः' पदका अर्थ है—यज्ञसे पुष्ट हुए, पूजित हुए, संवर्धित हुए। मध्यलोकमें होनेके कारण मनुष्य ऊपरके और नीचेके सभी लोकोंमें रहनेवाले प्राणियोंको पुष्ट कर सकता है। सबका हित करनेके लिये ही मनुष्यको मध्यलोकमें बसाया गया है। इसीलिये मनुष्य कल्याणका अधिकारी है।

~~~

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ १३॥

यज्ञशिष्टाशिनः	= यज्ञशेष (योग) का	**तु**	= परन्तु		कर्म करते हैं,
	अनुभव करनेवाले	**ये**	= जो	**ते**	= वे
सन्तः	= श्रेष्ठ मनुष्य	**आत्मकारणात्**	= केवल अपने	**पापाः**	= पापीलोग (तो)
सर्वकिल्बिषैः	= सम्पूर्ण पापोंसे		लिये ही	**अघम्**	= पापका (ही)
मुच्यन्ते	= मुक्त हो जाते हैं।	**पचन्ति**	= पकाते अर्थात् सब	**भुञ्जते**	= भक्षण करते हैं।

विशेष भाव—मनुष्यके पास शरीर, योग्यता, पद, अधिकार, विद्या, बल आदि जो कुछ है, वह सब मिला हुआ है और बिछुड़नेवाला है। इसलिये वह अपना और अपने लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरोंकी सेवाके लिये है। इस बातमें हमारी भारतीय संस्कृतिका पूरा सिद्धान्त आ जाता है। जैसे हमारे शरीरके सब अवयव शरीरके हितके लिये हैं, ऐसे ही संसारके सभी मनुष्य संसारके हितके लिये हैं। कोई मनुष्य किसी भी देश, वेश, वर्ण, आश्रम आदिका क्यों न हो, अपने कर्मोंके द्वारा दूसरोंकी सेवा करके सुगमतापूर्वक अपना कल्याण कर सकता है।

हमारेमें जो कुछ भी विशेषता है, वह दूसरोंके लिये है, अपने लिये नहीं। अगर सभी मनुष्य ऐसा करने लगें तो कोई भी बद्ध नहीं रहेगा, सब जीवन्मुक्त हो जायँगे। मिली हुई वस्तुको दूसरोंकी सेवामें लगा दिया तो अपने घरका क्या खर्च हुआ? मुफ्तमें कल्याण होगा। इसके सिवाय मुक्तिके लिये और कुछ करनेकी जरूरत ही नहीं है। जितना हमारे पास है, उसीको सेवामें लगानेकी जिम्मेवारी है, उससे अधिककी जिम्मेवारी है ही नहीं। उससे अधिक मनुष्य कर सकता भी नहीं। अपने पास जितनी वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य है, उतनी पूरी सेवामें खर्च करेंगे तो कल्याण भी पूरा ही होगा।

वास्तवमें शरीरसे संसारका ही काम होता है, अपना काम होता ही नहीं, क्योंकि शरीर हमारे लिये है ही नहीं। कुछ-न-कुछ काम करनेके लिये ही शरीरकी जरूरत होती है। अगर कुछ भी न करें तो शरीरकी क्या जरूरत? इसलिये शरीरके द्वारा अपने लिये कुछ करना ही दोष है। मिली हुई वस्तुके द्वारा हम अपने लिये कुछ नहीं कर सकते, प्रत्युत उसके द्वारा संसारकी सेवा कर सकते हैं। शरीर संसारका अंश है; अतः इससे जो कुछ होगा, संसारके लिये ही होगा। संसारसे आगे शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि जा सकते ही नहीं, इनको संसारसे अलग कर सकते ही नहीं। इसलिये अपने सुखके लिये कर्म करना मनुष्यपना नहीं है, प्रत्युत राक्षसपना है, असुरपना है! वास्तवमें मनुष्य वही है, जो दूसरोंके हितके लिये कर्म करता है। अपने सुखके लिये कर्म करनेवाले पापका ही भक्षण करते हैं अर्थात् सदा दुःखी ही रहते हैं और दूसरेके हितके लिये कर्म करनेवाले सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् सदाके लिये सुखी हो जाते हैं—**'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्'** (गीता ४। ३१)।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

भूतानि = सम्पूर्ण प्राणी
अन्नात् = अन्नसे
भवन्ति = उत्पन्न होते हैं।
अन्नसम्भवः = अन्नकी उत्पत्ति
पर्जन्यात् = वर्षासे होती है।
पर्जन्यः = वर्षा
यज्ञात् = यज्ञसे
भवति = होती है।
यज्ञः = यज्ञ
कर्मसमुद्भवः = कर्मोंसे सम्पन्न होता है।
कर्म = कर्मोंको (तू)
ब्रह्मोद्भवम् = वेदसे उत्पन्न
विद्धि = जान (और)
ब्रह्म = वेदको
अक्षरसमुद्भवम् = अक्षर ब्रह्मसे प्रकट हुआ (जान)।
तस्मात् = इसलिये (वह)
सर्वगतम् = सर्वव्यापी
ब्रह्म = परमात्मा
यज्ञे = यज्ञ (कर्तव्य-कर्म)में
नित्यम् = नित्य
प्रतिष्ठितम् = स्थित है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**न, अनुवर्तयति**	= अनुसार नहीं चलता,	**अघायुः**	=अघायु (पापमय जीवन बितानेवाला) मनुष्य
यः	=जो मनुष्य	**सः**	=वह	**मोघम्**	=(संसारमें) व्यर्थ ही
इह	=इस लोकमें	**इन्द्रियारामः**	=इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला	**जीवति**	=जीता है।
एवम्	=इस प्रकार				
प्रवर्तितम्	=(परम्परासे) प्रचलित				
चक्रम्	=सृष्टि-चक्रके				

विशेष भाव—नवें श्लोकसे लेकर यहाँतक जो वर्णन आया है, उसका तात्पर्य निःस्वार्थभावसे दूसरोंकी सेवा करनेमें ही है।

~~~

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ १७॥

तु	=परन्तु	**च**	=और	**सन्तुष्टः**	=सन्तुष्ट
यः	=जो	**आत्मतृप्तः**	=अपने-आपमें ही तृप्त	**स्यात्**	=है,
मानवः	=मनुष्य	**च**	=तथा	**तस्य**	=उसके लिये
आत्मरतिः, एव	=अपने-आपमें ही रमण करनेवाला	**आत्मनि**	=अपने-आपमें	**कार्यम्**	=कोई कर्तव्य
		एव	=ही	**न**	=नहीं
				विद्यते	=है।

विशेष भाव—कर्मयोगी निःस्वार्थभावसे संसारकी सेवाके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है। जैसे गङ्गाजलसे गङ्गाका ही पूजन किया जाय, ऐसे ही संसारसे मिले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्‌को संसारकी ही सेवामें लगा देनेसे चिन्मय स्वरूप शेष रह जाता है। इसलिये उसकी प्रीति, तृप्ति और सन्तुष्टि स्वरूपमें ही होती है।

सांसारिक विधि और निषेध—दोनों वास्तवमें निषेध ही हैं; क्योंकि ये दोनों ही नहीं रहनेवाले हैं। इसलिये संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर कर्मयोगीके लिये कोई विधि-निषेध रहता ही नहीं—'**तस्य कार्यं न विद्यते**'।

~~~

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥

तस्य	=उस (कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुष)का	**अर्थः**	=प्रयोजन (रहता है और)	**सर्वभूतेषु**	=सम्पूर्ण प्राणियोंमें (किसी भी प्राणीके साथ)
इह	=इस संसारमें	**न**	=न	**अस्य**	=इसका
न	=न तो	**अकृतेन**	=कर्म न करनेसे	**कश्चित्**	=किंचिन्मात्र भी
कृतेन	=कर्म करनेसे	**एव**	=ही (कोई प्रयोजन रहता है)	**अर्थव्यपाश्रयः**	=स्वार्थका सम्बन्ध
कश्चन	=कोई	**च**	=तथा	**न**	=नहीं रहता।

~~~
~~~

विशेष भाव— संसारमें 'करना' और 'न करना'—दोनों सापेक्ष हैं। इसलिये 'मेरेको कुछ नहीं करना है'—यह भी 'करना' ही है। परन्तु परमात्मतत्त्वमें 'न करना' निरपेक्ष है, स्वाभाविक है। कारण कि चिन्मय सत्ताका न तो क्रिया करनेके साथ सम्बन्ध है और न क्रिया न करनेके साथ सम्बन्ध है। इसलिये परमात्मतत्त्वको प्राप्त हुए कर्मयोगी महापुरुषका न तो किसी वस्तुसे कोई सम्बन्ध रहता है, न व्यक्तिसे कोई सम्बन्ध रहता है और न क्रियासे ही कोई सम्बन्ध रहता है—'**योऽवतिष्ठति नेङ्गते**' (गीता १४। २३)। उसकी दृष्टिमें एक चिन्मय सत्ताके सिवाय कुछ नहीं रहता।

~~~

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १९॥

तस्मात्	= इसलिये (तू)	**समाचर**	= भलीभाँति आचरण कर;	**कर्म**	= कर्म
सततम्	= निरन्तर			**आचरन्**	= करता हुआ
असक्तः	= आसक्तिरहित (होकर)	**हि**	= क्योंकि	**पूरुषः**	= मनुष्य
कार्यम्	= कर्तव्य	**असक्तः**	= आसक्तिरहित (होकर)	**परम्**	= परमात्माको
कर्म	= कर्मका			**आप्नोति**	= प्राप्त हो जाता है।

~~~

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥ २०॥

जनकादयः	= राजा जनक-जैसे अनेक महापुरुष	**संसिद्धिम्**	= परमसिद्धिको	**कर्तुम्**	= (निष्कामभावसे) कर्म करनेके
		आस्थिताः	= प्राप्त हुए थे। (इसलिये)		
हि	= भी			**एव**	= ही
कर्मणा	= कर्म (कर्मयोग)के द्वारा	**लोकसङ्ग्रहम्**	= लोकसंग्रहको	**अर्हसि**	= योग्य है अर्थात् अवश्य करना चाहिये।
		सम्पश्यन्	= देखते हुए		
एव	= ही	**अपि**	= भी (तू)		

विशेष भाव— यहाँ आये '**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः**' पदोंसे सिद्ध होता है कि कर्मयोग मुक्तिका स्वतन्त्र साधन है। जनकादि राजाओंने भी कर्मयोगके द्वारा ही परमसिद्धि प्राप्त की; क्योंकि उन्होंने केवल दूसरोंकी सेवाके लिये, उनको सुख पहुँचानेके लिये ही राज्य किया, अपने लिये राज्य नहीं किया।

'**लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि**' पदोंका तात्पर्य है कि तेरेको लोगोंमें कर्मयोगका यह आदर्श स्थापित करना चाहिये कि कर्मयोगका पालन करनेसे परमसिद्धिकी प्राप्ति हो जाती है।

~~~

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

श्रेष्ठः	= श्रेष्ठ मनुष्य	**तत्, तत्**	= वैसा-वैसा	**कुरुते**	= कर देता है,
यत्, यत्	= जो-जो	**एव**	= ही (आचरण करते हैं)।	**लोकः**	= दूसरे मनुष्य
आचरति	= आचरण करता है,			**तत्**	= उसीके
		सः	= वह	**अनुवर्तते**	= अनुसार आचरण करते हैं।
इतरः	= दूसरे	**यत्**	= जो कुछ		
जनः	= मनुष्य	**प्रमाणम्**	= प्रमाण		
~~~

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ २२॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**कर्तव्यम्**	=कर्तव्य	**अनवाप्तम्**	=अप्राप्त है,
मे	=मुझे	**अस्ति**	=है	**कर्मणि**	=(फिर भी मैं) कर्तव्यकर्ममें
त्रिषु	=तीनों	**च**	=और	**एव**	=ही
लोकेषु	=लोकोंमें	**न**	=न (कोई)	**वर्ते**	=लगा रहता हूँ।
न	=न तो	**अवाप्तव्यम्**	=प्राप्त करनेयोग्य (वस्तु)		
किञ्चन	=कुछ				

विशेष भाव—महाभारतमें भगवान्‌ने उत्तङ्क ऋषिको भी तीनों लोकोंमें अपना कर्तव्य बताया है—

धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।

(महा० आश्व० ५४। १३-१४)

'मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ।'

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४॥

हि	=क्योंकि	**मनुष्याः**	=मनुष्य	**इमे**	=ये
पार्थ	=हे पार्थ!	**सर्वशः**	=सब प्रकारसे	**लोकाः**	=सब मनुष्य
यदि	=अगर	**मम**	=मेरे (ही)	**उत्सीदेयुः**	=नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ
अहम्	=मैं	**वर्त्म**	=मार्गका	**च**	=और (मैं)
जातु	=किसी समय	**अनुवर्तन्ते**	=अनुसरण करते हैं।	**सङ्करस्य**	=वर्णसंकरताको
अतन्द्रितः	=सावधान होकर			**कर्ता**	=करनेवाला
कर्मणि	=कर्तव्यकर्म	**चेत्**	=यदि	**स्याम्**	=होऊँ (तथा)
न	=न	**अहम्**	=मैं	**इमाः**	=इस
वर्तेयम्	=करूँ (तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि)	**कर्म**	=कर्म	**प्रजाः**	=समस्त प्रजाको
		न	=न	**उपहन्याम्**	=नष्ट करनेवाला बनूँ।
		कुर्याम्	=करूँ (तो)		

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्॥ २५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!
कर्मणि	= कर्ममें
सक्ताः	= आसक्त हुए
अविद्वांसः	= अज्ञानिजन
यथा	= जिस प्रकार
कुर्वन्ति	= (कर्म) करते हैं,
असक्तः	= आसक्तिरहित
विद्वान्	= तत्त्वज्ञ महापुरुष (भी)
लोकसङ्ग्रहम्	= लोकसंग्रह
चिकीर्षुः	= करना चाहता हुआ
तथा	= उसी प्रकार
कुर्यात्	= (कर्म) करे।
युक्तः	= सावधान
विद्वान्	= तत्त्वज्ञ महापुरुष
कर्मसङ्गिनाम्	= कर्मोंमें आसक्तिवाले
अज्ञानाम्	= अज्ञानी मनुष्योंकी
बुद्धिभेदम्	= बुद्धिमें भ्रम
न, जनयेत्	= उत्पन्न न करे, (प्रत्युत स्वयं)
सर्वकर्माणि	= समस्त कर्मोंको
समाचरन्	= अच्छी तरहसे करता हुआ
जोषयेत्	= (उनसे भी वैसे ही) करवाये।

विशेष भाव—तत्त्वज्ञ महापुरुष और भगवान्—दोनोंमें ही कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। अतः वे केवल लोकसंग्रहके लिये ही कर्तव्य-कर्म किया करते हैं, अपने लिये नहीं। साधकको भी अपने लिये कुछ नहीं करना चाहिये; क्योंकि स्वरूपमें कर्तृत्व नहीं है। लोगोंको उन्मार्गसे हटाकर सन्मार्गमें लगाना लोकसंग्रह है। लोकसंग्रहका उपाय है—शास्त्रके अनुसार ठीक आचरण करना, पर भीतरमें साधक यह भाव रखे कि मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है। वह लोगोंमें यह न कहे कि मैं अपने लिये कुछ नहीं करता हूँ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २७॥

कर्माणि	= सम्पूर्ण कर्म
सर्वशः	= सब प्रकारसे
प्रकृतेः	= प्रकृतिके
गुणैः	= गुणोंद्वारा
क्रियमाणानि	= किये जाते हैं; (परन्तु)
अहङ्कारविमूढात्मा	= अहंकारसे मोहित अन्तः-करणवाला अज्ञानी मनुष्य
अहम्	= 'मैं
कर्ता	= कर्ता हूँ'—
इति	= ऐसा
मन्यते	= मान लेता है।

विशेष भाव—सम्पूर्ण क्रियाएँ जड़-विभागमें ही होती हैं। चेतन-विभागमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती। अहंकारसे अन्तःकरण मोहित होनेके कारण अज्ञानी मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मान लेता है। अहंकारसे अन्तःकरण मोहित होनेका तात्पर्य है—अपरा प्रकृतिके अंश अहम्‌के साथ अपना सम्बन्ध मान लेना अर्थात् अहम्‌को अपना स्वरूप मान लेना कि यही मैं हूँ। इसीको तादात्म्य कहते हैं।

अपनेको कर्ता माननेवाला तो चेतन है, पर वह जड़ अहम्‌को अपना स्वरूप मान लेता है। तात्पर्य है कि अहम्‌को अपना स्वरूप माननेवाला, अपनेको एकदेशीय माननेवाला स्वयं परमात्माका अंश है। उस स्वयंमें कर्तापन सम्भव ही नहीं है (गीता १३। २९)। वास्तवमें स्वयं शरीरसे मिल सकता ही नहीं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१), पर मनुष्य मिला हुआ मान लेता है—'**कर्ताहमिति मन्यते**'। वास्तवमें तादात्म्य होता नहीं, प्रत्युत तादात्म्य माना जाता है। तात्पर्य है कि स्वयं कर्ता बनता नहीं, केवल अविवेकपूर्वक अपनेमें कर्तापनकी मान्यता कर लेता है—'**मन्यते**'। अपनेको कर्ता मानते ही उसपर शास्त्रीय विधि-निषेध लागू हो जाते हैं और उसको कर्मफलका भोक्ता बनना पड़ता है।

स्वरूप (स्वयं) में कोई क्रिया नहीं है। क्रिया वहीं होती है, जहाँ कुछ खाली जगह हो। सर्वथा ठोस स्वरूपमें क्रिया कैसे हो सकती है? परन्तु अपनेको कर्ता मान लेनेसे वह प्रकृतिकी जिस क्रियाके साथ सम्बन्ध जोड़ता

है, वह क्रिया उसके लिये फलजनक 'कर्म' बन जाती है, जिसका फल उसको भोगना ही पड़ता है। कारण कि जो कर्ता होता है, वही भोक्ता होता है।

स्वरूपका कारकमात्रसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद है। इसलिये स्वरूपमें लेशमात्र भी कर्तृत्व नहीं है। कर्तृत्वका विभाग ही अलग है। आजतक देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, यक्ष, राक्षस आदि अनेक शरीरों (योनियों) में जो भी कर्म किये गये हैं, उनमेंसे कोई भी कर्म स्वरूपतक नहीं पहुँचा तथा कोई भी शरीर स्वरूपतक नहीं पहुँचा; क्योंकि कर्म और पदार्थ (शरीर)का विभाग ही अलग है और स्वरूपका विभाग ही अलग है। परन्तु इस विवेकको महत्त्व न देनेके कारण मनुष्य कर्म और फलमें बँध जाता है।

जबतक 'करना' है, तबतक अहंकारके साथ सम्बन्ध है; क्योंकि अहंकार (कर्तापन) के बिना 'करना' सिद्ध नहीं होता। करनेका भाव होनेपर कर्तृत्वाभिमान हो ही जाता है। कर्तृत्वाभिमान होनेसे 'करना' होता है और करनेसे कर्तृत्वाभिमान पुष्ट होता है। इसलिये किये हुए साधनसे साधक कभी अहंकाररहित हो ही नहीं सकता। अहंकारपूर्वक किया गया कर्म कभी कल्याण नहीं कर सकता; क्योंकि सब अनर्थोंका, जन्म-मरणका मूल अहंकार ही है। अपने लिये कुछ न करनेसे अहंकारके साथ सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् प्रकृतिमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह क्रियाको महत्त्व न देकर अपने विवेकको महत्त्व दे। विवेकको महत्त्व देनेसे विवेक स्वतः स्पष्ट होता रहता है और साधकका मार्गदर्शन करता रहता है। आगे चलकर यह विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है।

~~~

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ २८॥

तु	=परन्तु	**तत्त्ववित्**	=तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष	**वर्तन्ते**	=बरत रहे हैं'—
महाबाहो	=हे महाबाहो!	**गुणाः**	='सम्पूर्ण गुण (ही)	**इति**	=ऐसा
गुणकर्मविभागयोः	=गुण-विभाग और कर्म-विभागको	**गुणेषु**	=गुणोंमें	**मत्वा**	=मानकर (उनमें)
				न, सज्जते	=आसक्त नहीं होता।

विशेष भाव—जो अहंकारसे मोहित नहीं होता, वह 'तत्त्ववित्' होता है। इस तत्त्ववित्‌को ही दूसरे अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'तत्त्वदर्शी' कहा है। तत्त्ववित् गुण-विभाग और कर्म-विभागसे अर्थात् पदार्थ और क्रियासे सर्वथा अतीत हो जाता है।

जबतक साधकका संसारके साथ सम्बन्ध रहेगा, तबतक वह 'तत्त्ववित्' नहीं हो सकता। कारण कि संसारके साथ सम्बन्ध रखते हुए कोई संसारको जान ही नहीं सकता। संसारसे सर्वथा अलग होनेपर ही संसारको जान सकते हैं—यह नियम है। इसी तरह परमात्मासे अलग होकर कोई परमात्माको जान ही नहीं सकता। परमात्मासे एक होकर ही परमात्माको जान सकते हैं—यह नियम है। कारण यह है कि वास्तवमें हम संसारसे अलग हैं और परमात्मासे एक हैं। शरीरकी संसारके साथ एकता है, हमारी (स्वयंकी) परमात्माके साथ एकता है।

~~~

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९॥

प्रकृतेः	=प्रकृतिजन्य	**सज्जन्ते**	=आसक्त रहते हैं।	**कृत्स्नवित्**	=पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी मनुष्य
गुणसम्मूढाः	=गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए अज्ञानी मनुष्य	**तान्**	=उन	**न, विचालयेत्**	=विचलित न करे।
गुणकर्मसु	=गुणों और कर्मोंमें	**अकृत्स्नविदः**	=पूर्णतया न समझनेवाले		
		मन्दान्	=मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको		

विशेष भाव—अर्जुनका प्रश्न था कि मेरेको घोर कर्ममें क्यों लगाते हो? उस प्रश्नका उत्तर भगवान् कई तरहसे देते हैं, जिसका तात्पर्य है कि मेरा उद्देश्य घोर कर्ममें लगाना नहीं है, प्रत्युत कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना है। कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये ही कर्मयोग है।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३०॥

अध्यात्मचेतसा	= (तू) विवेकवती बुद्धिके द्वारा	**मयि**	= मेरे	**विगतज्वरः**	= सन्तापरहित
सर्वाणि	= सम्पूर्ण	**सन्न्यस्य**	= अर्पण करके	**भूत्वा**	= होकर
कर्माणि	= कर्तव्य-कर्मोंको	**निराशीः**	= कामनारहित,	**युध्यस्व**	= युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको कर।
		निर्ममः	= ममतारहित (और)		

विशेष भाव—अबतक तो भगवान्‌ने अर्जुनके प्रश्न (मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हो?) का ही कई तरहसे उत्तर दिया। अब इस श्लोकमें भगवन्निष्ठाके अनुसार कर्म करनेकी विधि बताते हैं।

सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण कर—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि क्रिया और पदार्थको अपने और अपने लिये न मानकर मेरे और मेरे लिये ही मान। कारण कि भगवान् समग्र हैं और सम्पूर्ण कर्म तथा पदार्थ (अधिभूत) समग्र भगवान्‌के ही अन्तर्गत हैं (गीता ७। २९-३०)। उस समग्र भगवान्‌के लिये ही यहाँ 'मयि' पद आया है।

इस श्लोकमें '**मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य**' पदोंमें भक्तियोगकी, '**अध्यात्मचेतसा**' पदमें ज्ञानयोगकी और '**निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः**' पदोंमें कर्मयोगकी बात आयी है।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

ये	= जो	**इदम्**	= इस (पूर्वश्लोकमें वर्णित)	**ते**	= वे
मानवाः	= मनुष्य			**अपि**	= भी
अनसूयन्तः	= दोष-दृष्टिसे रहित होकर	**मतम्**	= मतका	**कर्मभिः**	= कर्मोंके बन्धनसे
श्रद्धावन्तः	= श्रद्धापूर्वक	**नित्यम्**	= सदा		
मे	= मेरे	**अनुतिष्ठन्ति**	= अनुसरण करते हैं,	**मुच्यन्ते**	= मुक्त हो जाते हैं।

विशेष भाव—भगवान्‌का मत ही वास्तविक और सर्वोपरि 'सिद्धान्त' है, जिसके अन्तर्गत सभी मत-मतान्तर आ जाते हैं। परन्तु भगवान् अभिमान न करके बड़ी सरलतासे, नम्रतासे अपने सिद्धान्तको 'मत' नामसे कहते हैं। तात्पर्य है कि भगवान्‌ने अपने अथवा दूसरे किसीके भी मतका आग्रह नहीं रखा है, प्रत्युत निष्पक्ष होकर अपनी बात सामने रखी है।

मत सर्वोपरि नहीं होता, प्रत्युत व्यक्तिगत होता है। हरेक व्यक्ति अपना-अपना मत प्रकट कर सकता है; परन्तु सिद्धान्त सर्वोपरि होता है, जो सबको मानना पड़ता है। इसलिये गुरु-शिष्यमें भी मतभेद तो हो सकता है, पर सिद्धान्तभेद नहीं हो सकता। ऋषि-मुनि, दार्शनिक अपने-अपने मतको भी 'सिद्धान्त' नामसे कहते हैं; परन्तु गीतामें भगवान् अपने सिद्धान्तको भी 'मत' नामसे कहते हैं। ऋषि, मुनि, दार्शनिक, आचार्य आदिके मतोंमें तो भेद (मतभेद) रहता है, पर भगवान्‌के मत अर्थात् सिद्धान्तमें कोई मतभेद नहीं है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

तु	=परन्तु		हुए	**अचेतसः**	=(और) अविवेकी
ये	=जो मनुष्य	**न, अनुतिष्ठन्ति**	=(इसका) अनुष्ठान		मनुष्योंको
मे	=मेरे		नहीं करते,	**नष्टान्**	=नष्ट हुए (ही)
एतद्	=इस	**तान्**	=उन	**विद्धि**	=समझो अर्थात्
मतम्	=मतमें	**सर्वज्ञानविमूढान्**	=सम्पूर्ण ज्ञानोंमें		उनका पतन ही
अभ्यसूयन्तः	=दोष-दृष्टि करते		मोहित		होता है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

भूतानि	=सम्पूर्ण प्राणी	**स्वस्याः**	=अपनी	**निग्रहः**	=(फिर इसमें
प्रकृतिम्	=प्रकृतिको	**प्रकृतेः**	=प्रकृतिके		किसीका)
यान्ति	=प्राप्त होते हैं।	**सदृशम्**	=अनुसार		हठ
ज्ञानवान्	=ज्ञानी महापुरुष	**चेष्टते**	=चेष्टा करता	**किम्**	=क्या
अपि	=भी		है।	**करिष्यति**	=करेगा?

विशेष भाव—ज्ञानी महापुरुष भी जब व्यवहार करता है तो स्वभावके अनुसार ही करता है। कारण कि कारणोंके बिना कोई व्यवहार नहीं कर सकता। जैसे आचार्य बालककी स्थितिमें आकर ही उसको वर्णमाला (क-ख-ग) सिखाता है, ऐसे ही ज्ञानी महापुरुष भी साधारण मनुष्यकी स्थितिमें आकर ही उसको समझाता है, व्यवहार करता है।

'**चेष्टते**' पदका तात्पर्य है कि वह कर्म करता नहीं, प्रत्युत उससे प्रकृतिके अनुसार स्वतः क्रिया होती है। जैसे वृक्षके पत्ते हिलते हैं तो उनसे कोई फलजनक कर्म (पाप या पुण्य) नहीं होता, ऐसे ही कर्तृत्वाभिमान न होनेके कारण उसके द्वारा कोई शुभ-अशुभ कर्म नहीं बनता।

'**स्वस्याः**' पदका तात्पर्य है कि वह प्रकृतिके परवश नहीं होता, प्रत्युत प्रकृति ही उसके परवश होती है।

ज्ञानी महापुरुष भी दूसरोंके हितमें लगे रहते हैं; क्योंकि साधनावस्थामें ही उनका स्वभाव प्राणिमात्रका हित करनेका रहा है—'**सर्वभूतहिते रताः**' (गीता ५। २५; १२। ४)। इसलिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष न रहनेपर भी उनमें सबका हित करनेका स्वभाव रहता है। तात्पर्य है कि दूसरोंका हित करते-करते जब उनका संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब उनको हित करना नहीं पड़ता, प्रत्युत पहलेके प्रवाहके कारण उनके द्वारा स्वतः दूसरोंका हित होता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

इन्द्रियस्य,इन्द्रियस्य	= इन्द्रिय-		इन्द्रियके प्रत्येक		और द्वेष
	इन्द्रियके		विषयमें)	**व्यवस्थितौ**	=व्यवस्थासे
अर्थे	=अर्थमें (प्रत्येक	**रागद्वेषौ**	=(मनुष्यके) राग		(अनुकूलता और

	प्रतिकूलताको लेकर) स्थित हैं।	**न**	= नहीं	**अस्य**	= इसके (पारमार्थिक मार्गमें)
		आगच्छेत्	= होना चाहिये;		
तयोः	= (मनुष्यको) उन दोनोंके	**हि**	= क्योंकि	**परिपन्थिनौ**	= विघ्न डालनेवाले शत्रु हैं।
वशम्	= वशमें	**तौ**	= वे दोनों ही		

विशेष भाव—सुख-दुःखका कारण दूसरेको माननेसे ही राग-द्वेष होते हैं अर्थात् जिसको सुख देनेवाला मानते हैं, उसमें राग हो जाता है और जिसको दुःख देनेवाला मानते हैं, उसमें द्वेष हो जाता है। अतः राग-द्वेष अपनी भूलसे पैदा होते हैं, इसमें दूसरा कोई कारण नहीं है। राग-द्वेष होनेके कारण ही संसार भगवत्स्वरूप नहीं दीखता, प्रत्युत जड़ और नाशवान् दीखता है। अगर राग-द्वेष न हों तो जड़ता है ही नहीं, प्रत्युत सब कुछ चिन्मय परमात्मा ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)।

अगर मन-बुद्धिमें राग-द्वेषादि कोई दोष पैदा हो जाय तो उसके वशमें नहीं होना चाहिये अर्थात् उसके अनुसार कोई निषिद्ध क्रिया नहीं करनी चाहिये। उसके वशीभूत होकर क्रिया करनेसे वह दोष दृढ़ हो जायगा। परन्तु उसके वशीभूत होकर क्रिया न करनेसे एक उत्साह पैदा होगा। जैसे, किसीने हमारेसे कड़वी बात कह दी, पर हमें क्रोध नहीं आया तो हमारे भीतर एक उत्साह, प्रसन्नता होगी कि आज तो हम बच गये! परन्तु इसमें अपना बल न मानकर भगवान्‌की कृपा माननी चाहिये कि उनकी कृपासे ही हम बच गये, नहीं तो इसके वशीभूत हो जाते! इस तरह साधकको कभी भी कोई दोष दीखे तो वह उसके वशीभूत न हो और उसको अपनेमें भी न माने। अगर राग-द्वेष अपनेमें होते तो जबतक अपनी सत्ता रहती तबतक राग-द्वेष भी रहते। परन्तु यह सबका अनुभव है कि हम तो निरन्तर रहते हैं, पर राग-द्वेष निरन्तर नहीं रहते, प्रत्युत आते-जाते हैं। सत्तारूप स्वयंमें राग-द्वेष आ ही नहीं सकते। कारण कि हमारा (स्वयंका) विभाग अलग है और राग-द्वेषका विभाग अलग है। जिसको राग-द्वेषके आने-जानेका ज्ञान होता है, वह राग-द्वेषसे अलग होता है। अतः राग-द्वेष हमारेसे भी अलग हैं और जिनमें ये प्रतीत होते हैं, उन मन-बुद्धि आदिसे भी अलग हैं—'**मनोगतान्**' (गीता २। ५५)।

'**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ**' पदोंका तात्पर्य है कि अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनोंमें राग न करे, प्रत्युत उनका सदुपयोग करे अर्थात् अनुकूलतामें दूसरोंकी सेवा करे और प्रतिकूलतामें अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करे। '**तयोर्न वशमागच्छेत्**' पदोंका तात्पर्य है कि अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सुखी-दुःखी न हो। सुखी-दुःखी होना फलासक्त होना है और फलासक्त मनुष्य बँध जाता है—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५। १२)।

~~~

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

स्वनुष्ठितात्	= अच्छी तरह आचरणमें लाये हुए	**स्वधर्मः**	= अपना धर्म	**श्रेयः**	= कल्याणकारक है (और)
		श्रेयान्	= श्रेष्ठ है।		
		स्वधर्मे	= अपने धर्ममें (तो)	**परधर्मः**	= दूसरेका धर्म
परधर्मात्	= दूसरेके धर्मसे			**भयावहः**	= भयको देनेवाला है।
विगुणः	= गुणोंकी कमीवाला	**निधनम्**	= मरना (भी)		

विशेष भाव—साधक जन्म और कर्मके अनुसार 'स्व' को अर्थात् अपनेको जो मानता है, उसका धर्म (कर्तव्य) उसके लिये 'स्वधर्म' है और जो उसके लिये निषिद्ध है, वह 'परधर्म' है, जैसे, साधक अपनेको किसी वर्ण और आश्रमका मानता है तो उस वर्ण और आश्रमका धर्म उसके लिये स्वधर्म है। वह अपनेको विद्यार्थी या अध्यापक मानता है तो पढ़ना या पढ़ाना उसके लिये स्वधर्म है। वह अपनेको सेवक, जिज्ञासु या भक्त मानता है तो सेवा,
~~~

जिज्ञासा या भक्ति उसके लिये स्वधर्म है। जिसमें दूसरेके अहितका, अनिष्टका भाव होता है, वह चोरी, हिंसा आदि कर्म किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं, प्रत्युत कुधर्म अथवा अधर्म हैं।*

निष्कामभावसे दूसरेके हितके लिये कर्म करना (कर्मयोग) स्वधर्म है। स्वधर्मको ही गीतामें सहज कर्म, स्वकर्म और स्वभावज कर्म नामसे कहा गया है।

कर्तव्यके विरुद्ध कर्म करना भी अकर्तव्य है और कर्तव्यका पालन न करना भी अकर्तव्य है (गीता २। ३३)।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

अर्जुन बोले—

वार्ष्णेय	=हे वार्ष्णेय!	**अपि**	=भी	**केन**	=किससे
अथ	=फिर	**बलात्**	=जबर्दस्ती	**प्रयुक्तः**	=प्रेरित होकर
अयम्	=यह	**नियोजितः**	=लगाये हुएकी	**पापम्**	=पापका
पूरुषः	=मनुष्य			**चरति**	=आचरण करता है?
अनिच्छन्	=न चाहता हुआ	**इव**	=तरह		

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥

श्रीभगवान् बोले—

रजोगुणसमुद्भवः	=रजोगुणसे उत्पन्न		है)।	**महापाप्मा**	=महापापी है।
एषः	=यह	**एषः**	=यह (काम ही)	**इह**	=इस विषयमें (तू)
कामः	=काम अर्थात् कामना (ही पापका कारण	**क्रोधः**	=क्रोध (में परिणत होता) है।	**एनम्**	=इसको (ही)
		महाशनः	=(यह) बहुत खानेवाला (और)	**वैरिणम्**	=वैरी
				विद्धि	=जान।

विशेष भाव—वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख चाहनेका नाम 'काम' है। इस काम-रूप एक दोषमें अनन्त दोष, अनन्त विकार, अनन्त पाप भरे हुए हैं। अतः जबतक मनुष्यके भीतर काम है, तबतक वह सर्वथा निर्दोष, निर्विकार, निष्पाप नहीं हो सकता। अपने सुखके लिये कुछ चाहनेसे ही बुराई होती है। जो किसीसे कुछ नहीं चाहता, वह बुराईरहित हो जाता है।

कर्मफल तीन प्रकारके होते हैं—इष्ट, अनिष्ट और मिश्र (गीता १८। १२)। तीनोंमें 'काम' का केवल 'अनिष्ट'

* प्रत्येक धर्ममें कुधर्म, अधर्म और परधर्म—ये तीनों होते हैं। दूसरेके अनिष्टका भाव, कूटनीति आदि 'धर्ममें कुधर्म' है। यज्ञमें पशुबलि देना आदि 'धर्ममें अधर्म' है। जो अपने लिये निषिद्ध है, ऐसा दूसरे वर्ण, आश्रम आदिका धर्म 'धर्ममें परधर्म' है। कुधर्म, अधर्म और परधर्म—इन तीनोंसे कल्याण नहीं होता। कल्याण उस धर्मसे होता है, जिसमें अपने स्वार्थ तथा अभिमानका त्याग एवं दूसरेका वर्तमानमें और भविष्यमें हित होता हो।

फल ही मिलता है।

शास्त्रनिषिद्ध कर्म प्रारब्धसे नहीं होता, प्रत्युत 'काम' से होता है। प्रारब्धसे (फलभोगके लिये) कर्म करनेकी वृत्ति तो हो जायगी, पर निषिद्ध कर्म नहीं होगा; क्योंकि प्रारब्धका फल भोगनेके लिये निषिद्ध आचरणकी जरूरत ही नहीं है।

'काम' रजोगुणसे पैदा होता है। अतः पापोंका कारण तो रजोगुण है और कार्य तमोगुण है। सभी पाप रजोगुणसे पैदा होते हैं।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥

यथा	=जैसे	**आव्रियते**	=ढका जाता है (तथा)	**तथा**	=ऐसे ही
धूमेन	=धुएँसे	**यथा**	=जैसे	**तेन**	=उस कामनाके द्वारा
वह्निः	=अग्नि	**उल्बेन**	=जेरसे	**इदम्**	=यह (ज्ञान अर्थात् विवेक)
च	=और	**गर्भः**	=गर्भ	**आवृतम्**	=ढका हुआ है।
मलेन	=मैलसे	**आवृतः**	=ढका रहता है,		
आदर्शः	=दर्पण				

विशेष भाव—परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कामना ही खास बाधक है। जैसे, पानीसे भरा हुआ घड़ा है और उसमें हमें दो काम करने हैं—उसको खाली करना है और उसमें आकाश भरना है। परन्तु वास्तवमें हमें दो काम नहीं करने हैं, प्रत्युत एक ही काम करना है—घड़ेको खाली करना। घड़ेमेंसे पानी निकाल दें तो आकाश अपने-आप भर जायगा। ऐसे ही कामनाका त्याग करना और परमात्माको प्राप्त करना—ये दो काम नहीं हैं। कामनाका त्याग कर दें तो परमात्माकी प्राप्ति अपने-आप हो जायगी। केवल कामनाके कारण ही परमात्मा अप्राप्त दीख रहे हैं।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!		होनेवाले	**नित्यवैरिणा**	=नित्य वैरीके द्वारा
एतेन	=इस	**च**	=और	**ज्ञानम्**	=(मनुष्यका) विवेक
अनलेन	=अग्निके (समान)	**ज्ञानिनः**	=विवेकियोंके		
दुष्पूरेण	=(कभी) तृप्त न	**कामरूपेण**	=कामना-रूप	**आवृतम्**	=ढका हुआ है।

विशेष भाव—साधनकी मुख्य बाधा है—संयोगजन्य सुखकी कामना। यह बाधा साधनमें बहुत दूरतक रहती है। साधक जहाँ सुख लेता है, वहीं अटक जाता है। यहाँतक कि वह समाधिका भी सुख लेता है तो वहाँ अटक जाता है*। सात्त्विक सुखकी कामना, आसक्ति भी बन्धनकारक हो जाती है—'**सुखसङ्गेन बध्नाति**' (गीता १४। ६)†। इसलिये यहाँ भगवान्‌ने संयोगजन्य सुखकी कामनाको विवेकी साधकोंका नित्य वैरी बताया है—'**न तेषु रमते बुधः**' (गीता ५। २२), '**दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**' (योगदर्शन २। १५)।

---

* भोगोंका सुख संयोगजन्य और समाधिका सुख वियोगजन्य है। संयोगजन्य सुख लेनेसे पतन हो जाता है और वियोगजन्य सुख लेनेसे साधक अटक जाता है।

† परमात्मप्राप्तिके मार्गमें सात्त्विक सुखकी आसक्ति अटकाती है और राजस-तामस सुखकी आसक्ति पतन करती है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४० ॥

इन्द्रियाणि	=इन्द्रियाँ,	**उच्यते**	=कहे गये हैं।	**ज्ञानम्**	=ज्ञानको
मनः	=मन (और)	**एषः**	=यह कामना	**आवृत्य**	=ढककर
बुद्धिः	=बुद्धि	**एतैः**	=इन (इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि)के द्वारा	**देहिनम्**	=देहाभिमानी मनुष्यको
अस्य	=इस कामनाके			**विमोहयति**	=मोहित करती है।
अधिष्ठानम्	=वास-स्थान				

~~~

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१ ॥

तस्मात्	=इसलिये	**इन्द्रियाणि**	=इन्द्रियोंको		करनेवाले
भरतर्षभ	=हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**नियम्य**	=वशमें करके	**पाप्मानम्**	= महान् पापी कामको
त्वम्	=तू	**एनम्**	=इस	**हि**	=अवश्य ही
आदौ	=सबसे पहले	**ज्ञानविज्ञाननाशनम्**	=ज्ञान और विज्ञानका नाश	**प्रजहि**	=बलपूर्वक मार डाल।

~~~

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२ ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ४३ ॥

इन्द्रियाणि	=इन्द्रियोंको (स्थूलशरीरसे)	**तु**	=भी	**बुद्ध्वा**	=जानकर
		परा	=पर	**आत्मना**	=अपने द्वारा
पराणि	=पर (श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक तथा सूक्ष्म)	**बुद्धिः**	=बुद्धि है (और)	**आत्मानम्**	=अपने-आपको
		यः	=जो		
		बुद्धेः	=बुद्धिसे	**संस्तभ्य**	=वशमें करके
		तु	=भी	**महाबाहो**	=हे महाबाहो! (तू इस)
आहुः	=कहते हैं।	**परतः**	=पर है,		
इन्द्रियेभ्यः	=इन्द्रियोंसे	**सः**	=वह (काम) है।	**कामरूपम्**	=कामरूप
परम्	=पर	**एवम्**	=इस तरह	**दुरासदम्**	=दुर्जय
मनः	=मन है,	**बुद्धेः**	=बुद्धिसे	**शत्रुम्**	=शत्रुको
मनसः	=मनसे	**परम्**	=पर (काम)को	**जहि**	=मार डाल।

विशेष भाव— भगवान्‌ने इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिका नाम तो लिया है, पर 'अहम्' का नाम नहीं लिया। अहम् बुद्धिसे परे है। सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें भी भगवान्‌ने बुद्धिके बाद अहम्‌को लिया है—'**भूमिरापोऽनलो**

वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे…………'। अतः यहाँ भी '**सः**' पदसे अहम्‌में रहनेवाले 'काम' को लेना चाहिये।

जबतक स्वरूपका साक्षात्कार नहीं होता, तबतक अहम्‌में काम रहता है। स्वरूपका साक्षात्कार होनेपर अहम्‌में काम नहीं रहता—'**परं दृष्ट्वा निवर्तते**' (गीता २। ५९)। सुख तो है स्वरूपमें, पर कामके कारण मनुष्य जड़ताको सत्ता और महत्ता देकर उससे सुख चाहता है। जबतक जड़ताका सम्बन्ध है, तबतक 'काम' है, जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'प्रेम' होता है।

'काम' अपनेमें है—'**रसोऽप्यस्य**' (गीता २। ५९)। अपनेमें होनेसे ही काम हमारे लिये बाधक होता है। अगर यह अपनेमें न हो, दूसरे (इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि) में हो तो हमारेको क्या बाधा लगी? अपनेमें काम होनेसे ही स्वयं सुखी-दुःखी होता है, कर्ता-भोक्ता होता है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो काम अपनेमें माना हुआ है, अपनेमें है नहीं, तभी यह मिटता है। अतः काम अपनेमें है, पर माना हुआ है।

अहम्‌में रहनेवाली चीजको मनुष्य अपनेमें मान लेता है। अपनेमें अहम् माना हुआ है और उस अहम्‌में काम रहता है। अतः जबतक अहम् है, तबतक अहम्‌की जातिका आकर्षण अर्थात् 'काम' होता है और जब अहम् नहीं रहता, तब स्वयंकी जातिका आकर्षण अर्थात् 'प्रेम' होता है। काममें संसारकी तरफ और प्रेममें परमात्माकी तरफ आकर्षण होता है।

सम्पूर्ण त्रिलोकी, अनन्त ब्रह्माण्ड 'विषय' है। विषय इन्द्रियोंके एक देशमें हैं, इन्द्रियाँ मनके एक देशमें हैं, मन बुद्धिके एक देशमें है, बुद्धि अहम्‌के एक देशमें है और अहम् चेतन (स्वरूप)के एक देशमें है। अतः चेतन अत्यन्त महान् है, जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण त्रिलोकी, अनन्त ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं। परन्तु अपरा प्रकृतिके एक अंश अहम्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़नेके कारण मनुष्य अपनेको अत्यन्त छोटा (एकदेशीय) देखता है!

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥